मल्यो की डार

गीता गैरोला

मल्यो की डार

गीता गैरोला

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: मार्च, 2023

© ***गीता गैरोला***

भट्टी गाँव

के

पेड़ – पौधों,

पौन, पंछियों,

ठुल दीदी,

ननि दादी,

दादी – दादाजी,

माँ, चाचियों

और भूली बिसरी

सब सहेलियों

के लिए जिन्हें

मैं साँस के

साथ जीती हूँ

भूमिका

जब उस अनचाही ठेट लड़की ने कापी पर स्याही से लिखना शुरु किया तो उसकी उंगलियाँ स्याही से नीली हो गईं। बार-बार धोने के बाद भी वह स्याही छूटती नहीं थी। मुझे लगता है कि वह स्याही उसकी उंगली से अब तक नहीं छूटी। छूट जाती तो 'मल्यो की डार' जैसी अनूठी रचना का जन्म नहीं होता। अल्हड़ भोलेपन बेबाकी और गहन मानवीय संवेदनाओं से भरी यह रचना संस्मरण होने के साथ-साथ धागे में पिरोई अनेक कहानियों की माला है और अपनी समग्रता में एक समूचा उपन्यास।

लेखिका ने बचपन के भोलेपन और साथ ही समय के साथ विकसित होती सामाजिक चेतना और अपनी दुनिया, परिवार, गाँव, स्कूल, मास्टर, पेड़, पहाड़, जंगल, खेत, मौसम और रिश्तों को जैसा देखा और अनुभव किया उसी तरह ऐसे कौशल के साथ शब्दों में उतार दिया कि रचना पढ़ने के साथ-साथ देखने में बदलती चली जाती है। पाठक के साथ समूचा पहाड़ यात्रा करने लगता है...।

पहाड़ की औरतों के दुख-दर्द, यातना संघर्षों को जाने बिना नहीं समझा जा सकता। पहाड़, इन औरतों के संकटों का एक घनीभूत आकार है। इस रचना में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जो पहाड़ की औरत की नियति को बेहद संवेदनशीलता से उजागर करते हैं।

'कोदे की फंकी' एक ऐसी जीवंत महिला की कहानी है, जो कई दिनों से भूखी है और दुर्गम पहाड़ से घास काटकर अपने सिर पर ढो रही है। पानी के धारे के पास अपना बोझ उतारकर गट्-गट् पानी पी रही है। और खाली पेट होने के कारण वाक्-वाक् उल्टी कर रही है। फिर भूख मिटाने के लिए अधपके, कसैले कोदे को फूँक मारकर खा रही है। वह भूखे पेट संघर्ष कर रही है। जीवन से हार नहीं रही। उसकी आँखों में इतना पानी है, जितना पानी के धारे में नहीं है। यह सिर्फ पहाड़ की एक औरत की व्यथा और गाथा नहीं है, पता नहीं कितनी औरतों का जीवन है।

चौमासें की बारिश से खेत की मिट्टी गीली हो जाती है। औरतें उसमें बैठ कर निराई-गुड़ाई नहीं कर सकती। उन्हें कमर झुकाकर खेत नेलना-गोड़ना पड़ता है। दोनों हाथ काम में रमे होते हैं। छाता नहीं थामा जा सकता। दरअसल उनके सिर पर कोई सुरक्षा छाता है नहीं। बस पीठ ढकने के लिए बोरे का तिकोन या मालू के पत्तों से बना छेतला है, जो कमर के सिवाय कुछ भी भीगने से नहीं बचा सकता। गीली फसल गीली मिट्टी गीले कपड़े और घनघोर बारिश में पसीना बहाता श्रम, पहाड़ की औरत है, जिसकी पीड़ा गीतों में रो रही है।

'केकू बाबा न मिडिल पढ़ाई
केकू बाबा न राठ ब्यवाई
राठ्यूँ को बोली बीगेन्दी नी च
आलू, झंगोरी, कुटेन्दू नी च'

लाटी की कहानी विचलित कर देने वाली कहानी है। वह ब्याह के बाद से ही ओबरे (गोठ) में रहती थी। उसे परिवार के सदस्य की मान्यता कभी नहीं मिली। वह बच्चा जनने के लिए लाई गई थी। उसने बच्चा जन दिया तो परिवार में उसकी जरूरत भी खत्म हो गई। वह दूर से बच्चे को देख सकती थी। उसे छू नहीं सकती थी। हाँ, इतना जरूर था कि घर का मालिक रात-बेरात उसके शरीर को झिझोंड़ने गोठ में पहुंच जाता था। यह महज पहाड़ की एक औरत की यंत्रणा नहीं है। पता नहीं, पहाड़ की कितनी औरतें ऐसी ही नियति झेल रही है। नारी-विमर्श के इस दौर में इस औरत का चेहरा उनकी रचनाओं में दिखाई नहीं देता। ये हाशिए की औरतें हैं और स्त्री-विमर्श के शब्द शिल्पी हाशिए के भीतर चमकदार जिन्दगी जी रहे हैं।

इस रचना में अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण में संतुलन है। जो अनुभव किया वह पूरी तरह अभिव्यक्त होता है और जो अभिव्यक्त हुआ, वह सफलता के साथ सम्प्रेषित होता है। भाषा, गढ़वाली और हिन्दी के बीच एक पुल की तरह है। पढ़ते हुए पता ही नहीं चलता कि पाठक कब पुल के इस छोर पर होता है और कब दूसरे छोर पर। जहाँ मार्मिक प्रसंग है, वहाँ भाषा तटस्थ है। वह पाठक के विवेक को बहाती नहीं, उसे ठहर कर सोचने को मजबूर करती है। और जहाँ उत्सवों का वर्णन है, वहाँ भाषा उत्सवधर्मी बनकर उत्सव में मिल जाती है।

मौसम के पहले हिंसर टीपना बच्चों का उत्सव है। घर-घर से अनाज इकट्ठा किया जाता है। खिचड़ी बनती है। रामलीला खेली जाती है। लेखिका ने उत्सव का ऐसा चित्रण किया है, जैसे रंगमंच पर एक-एक दृश्य सजीव होता जा रहा है।

शशि फूफू ने माँ से माँगकर अफगान स्नो के पफ वाले पाउडर और लाली से हमें सजा दिया है। मेरे मन में राम बनकर हौल मची है। जल्दी से दादाजी को दिखा दूँ, और तारीफ बटोर लूँ। मुझे कोई बाहर नहीं जाने देता। 'चल बैठ मेकअप करके एक साथ दर्शकों के सामने आना', दीदी ने डाँटा। एक टूटा धुँधला शीशा बारी-बारी से सब माँग रहे हैं और खुद को देखकर अघा रहे है।

ऐसे ही कान्ति फूफू के ब्याह का इतना सजीव चित्रण है कि पाठक उत्सव का पात्र बनकर उसमें शामिल हो जाता है। सारा गाँव सक्रिय हो गया है। लकड़ी के लिए पेड़ काटे जा रहे है। बाजार से राशन-पानी लाया जा रहा है। घर-घर में गेहूँ पीसा जा रहा है और धान कूटा जा रहा है। उड़द की दाल के पकोड़े और अर्से बन रहे हैं। कर्जू भैजी का ढोल बज रहा है (औजी अस्पृश्य है, लेकिन उसका ढोल पवित्र है, कोई भी मंगल कार्य उसके बिना शुरु नहीं हो सकता सबसे पहले रोली-चावल से उसकी पूजा की जाती है)। पैणा बन रहा है, न्यौता भिजवाया जा रहा है।

बारात में सबसे आगे देवी की निशाण सफेद फरोली चल रही है। ढोल-दमो, मशकबीन और पालकी में पीली धोती पहने सिर पर सेहरा बाँधे दूल्हा है। बेटी-ब्यारियाँ ताक-झाँक कर रही हैं और मीठी गालियों दे रही है।

‘हमारी गो मां लखडू का गट्ठा

ब्योला कू भैजी उल्लू कू पट्ठा’

बाराती-घराती जीम चुके हैं और अब फेरों के बाद विदाई की तैयारी चल रही है। मुँड बधाई, जूते चुराई, सड़ छुड़ाई, पंडित और औजी के लिए लेन-देन, मजाक, छेड़-छाड़, मील-भाव चल रहा है। फिर विदाई है और उसी के साथ सारे आनन्द में उदासी की परत छा जाती है और सारे रंग बिखर कर फीके पड़ गए हैं। उत्सव के माहौल में ब्यौली के अनिश्चित भविष्य की काली परछाइयाँ घिर गई है, जो पहाड़ की अधिसंख्य ब्यौलियों के विवाह के बाद की निर्मम सच्चाई है, ‘पता नहीं किन लोगों में जा रही है? घास-लकड़ी के लिए कितनी दूर जाना होगा? पानी का धारा कितनी दूर है? खेती-बाड़ी में अन्न भरपूर होगा की नहीं?

माँ, गाँव की सबसे पढ़ी-लिखी महिला है और साथ ही कमेरी भी है, जो बीस -बीस पूले काटकर लाती है। गाँव की बहुएं उससे अपने पतियों को चिट्ठी लिखवाती हैं। ब्वारियों का अपने पतियों को पत्र लिखवाना पहाड़ की संस्कृति में अपराध है। माँ इस संस्कृति में छेद करने का पहला क्रांतिकारी कदम उठती है। वह इससे आगे नहीं बढ़ती लेकिन यह कदम बेटी के भीतर एक बीज रोप देता है, जो कालान्तर में ‘मल्यो की डार’ में अपने वैभव के साथ दिखाई देता है।

रचना में ये सारे अनुभव समाहित हैं, जिनसे वह अल्हड़ पहाड़ी लड़का गुजरती है और महसूस करती है कि उसे पाठकों के साथ साझा किया जाना चाहिए। उसका

भोलापन है, जिद है, लड़ाइयाँ हैं, ईर्ष्या है, प्यार है और खेल है। दादी की कहानियों का अक्षय भण्डार है, जिसमें भूत-प्रेत की कहानियों के साथ-साथ, पहाड़ की स्त्री की कहानियाँ हैं, उसकी करुणा के गीत हैं। इन गीतों और कहानियों ने उसकी करुणा और विरोध में भूमिका निभाई है, जो किसी भी लेखक के जरूरी उपादान हैं। कुछ अनायास प्राप्त अनुभव भी हैं। खासकर चकोर पालने का अनुभव, जिसने उसके लिए प्यार और संवेदनशीलता की वह राह बनाई जिस पर उसे जीवन में चलते ही रहना है। एक अनन्त यात्रा के लिए।

पारिवारिक चरित्रों के अलावा दो ऐसे चरित्र भी हैं जो लेखिका के भीतर मानवीय समझ पैदा करते है। पहला मास्टर अंथवाल और दूसरा नजीब दादा। अंथवाल जी ने स्कूल का माहौल बदल दिया था। उनके सान्निध्य में पढ़ाई हमारे लिए खेल हो गई - स्कूल ऊर्जा का भंडार। मास्टर जी ने छुआछूत को मिटाने का पहला कदम उठाया। वे लड़कियों की रचनात्मकता उभारने की प्रेरणा बन गए। गाँव वालों को खेती के तरीके सिखाए और गाँव में साक्षरता शिविर लगाए। गाँव का जड़ समाज उनकी प्रगतिशीलता को स्वीकार नहीं कर सका। उनका तबादला कर दिया गया। वे चले गए। लेखिका उनसे फिर कभी नहीं मिली लेकिन वे आज भी उसके भीतर स्याही में लिखे हुए हैं।

नजीब दादा खच्चरों पर सामान लादकर पहाड़ के गाँवों में व्यापार करते थे। वे पारम्परिक बहु-सांस्कृतिक पहचान की बेजोड़ मिसाल थे और उन्होंने ‘व्यापार में

प्रेम’ की नई परिभाषा निर्मित की। आज तो प्रेम में भी व्यापार है। और उस ताने-बाने को उधेड़ा जा रहा है, जो इस महादेश की सबसे बड़ी पहचान है।

‘मल्यो की डार’ गुठ्यार से शुरु होती है। यह परिवार का गतिशील आँगन है। गुठ्यार की चमकीली धूप में दादी, बड़ियाँ और माँ गेहूँ, कोदा मिला विस्गुण सुखाती है। अनाज चुगने मल्यो की डार इसी आँगन में आती है, जिन्हें उड़ाने को लेखिका अपनी बहनों के साथ हाथ में डंडा लेकर ह्वा-ह्वा का शोर मचाती है। मल्यो प्रवासी पक्षी है, दाना चुगने आते हैं। दादी चारों बहनों को भी मल्यो की डार कहती है। वे सचमुच मल्यो की डार बनकर पहाड़ की दुनिया से उड़ जाती है। रचना का समाहार भी इसी गुठ्यार में होता है।

प्रवासी हुई वे चारों बहनें दादी के वार्षिक श्राद्ध में अपने पहाड़ लौट रही हैं। रास्ते भर वे अपनी पहचान ढूँढ रही हैं और पहचान गायब है। गाँव का घना जंगल कहीं दिखाई नहीं देता। जमाना बदल गया है। पानी का जग्वाल नहीं करना पड़ता। पन्देरे टूट गए हैं। घर-घर में नल लग गए है। अजीब विडम्बना है। जब गाँव में लोग थे, तब पानी नहीं था। अब पानी है, तो लोग नहीं हैं। सभी घरों में ताले लटक रहे हैं। मकानों में घास उग आयी है।

उसका मकान, अपना मकान, सभी खण्डहर हो गए हैं। वे दीवारें खो गई हैं, जिन्होंने कभी उसे सुरक्षित जीवन दिया था। गुठ्यार उजड़ गया है, जहाँ वे चहकती

थीं। वक्त के इतिहास में अब वे उस जगह खड़ी हैं, जहाँ सब कुछ है, पर घर नहीं है। जहाँ उसने पहली साँस ली थी और जहाँ पहली बार उसका दिल धड़का था।

सुभाष पंत

288, डोभालवाला, देहरादून

दो आखर

जिन्दगी कब पल-पल छोटी होती जाती है, पता ही नहीं चलता। रोजमर्रा की जरूरतों, भागम-भाग और व्यस्तताओं के बीच भी पहाड़ के अपने गाँव में बिताए जीवन के कुछ अमूल्य वर्ष दिल के ओने-कोनों में हमेशा रंग-बिरंगी तितलियों की तरह उड़ते फिरते हैं।

गर्मियाँ आते ही मुझे अपने गाँव वाले घर में बनी अंधेरी कोठरी याद आती है। नम ठण्डी और गर्मियों की दोपहरी में बेफिक्र गहरी नींद देने वाली। बरसात आती है, तो मुझे अपनी छज्जा से दिखते चौन्दकोट, कफोलस्यूँ, अदवाणी के डाँडे याद आते हैं, जो झुरझुरी बरसातों के सिलेटी कोहरे में लुका छिपी खेलते रहते थे। सिलड़ी गाँव के ठीक जड़ पर बहने वाली खरगड़ से उठती कोहरे की लकीर याद आती है जो देखते ही देखते बिना बुलाए हमारे घर के खुले दरवाजों के अन्दर घुसी चली जाती थी। राजजात में शामिल होने के दौरान बगुवावासा की ऊंचाई पर बादलों के साथ लुका छिपी करता बड़ा सा चाँद देख कर मुझे अपने गुठयार से दिखता बड़ा सा रूपहला उजला चाँद याद आया। जहाँ पर मैं अपने भाई बहनों के साथ आसमान की तरफ नजरें उठाए चाँद को देखती चलती थी और शोर मचाती, वो देखो मेरा चाँद, मेरे साथ-साथ चल रहा है। ठिठुरती सर्दियों में मुझे अपनी बैठक का कमरा याद आता है, जब बाहर बर्फ की सफेदी का उजास फैला होता और मेरी दादी अँगीठी में बीज

के कोयले जलाकर हमारे दिन भर उछल-कूद मचाते बर्फीले हाथ-पैरों की सिकाई करती। हम भुक्खड़ों को गहथ, भट्ट और मक्की को उबाल कर बनाये खाजे खिलाती थी। हेमन्त ऋतु के आते ही हमारे सगवाड़े (खेत) में दादाजी के लगाये सेब और गलगल, नींबू के फूलों से भरे लक-दक पेड़ों की भीनी खुशबू के बीच छिपी एक चखुली (चिड़िया) का गाया पृथ्वी भ्यो नमो : का गीत हमारी नींदें भगाता। जब दिन में सूरज और रात को चाँद निकलते छिपते तो मैं दादी से पूछती कि रात को सूरज कहाँ गया? दादी कहती, ‘‘चाँद ने उसका पीछा किया और सूरज बेचारा डांडे के पीछे से उतरकर नीचे धरती में चला गया। धरती माता के नीचे रात भर चल कर यही सूरज कल सुबह फिर सामने वाले डान्डे के पीछे दिखाई देते झक्क नीले आसमान से निकलेगा।’’ मैं दादाजी से पूछती, ‘‘क्या मैं चाँद को छू सकती हूँ।’’ वो बिना सोचे कहते, ‘‘हाँ बाबा क्यों नहीं छू सकती, जरूर छू सकती है। इसके लिए तुझे चाँद जितना लम्बा रास्ता पार करना होगा। उस रास्ते को पार करने में बहुत से साल लगेंगे।’’ गाँव की वो सहेलियाँ, वो खेल, वो शैतानी सब इतनी शिद्दत से क्यों याद आते हैं। मुझे ही याद आते हैं या सब ऐसे ही अपने बचपन को याद करते है।

लोग कहते हैं जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है हर व्यक्ति अपने बचपन की तरफ बार-बार लौटता है, तो क्या मैं भी उम्र बढ़ने के साथ अपने बचपन की तरफ बार-बार लौटती हूँ। बीते हुए लम्हों को फिर से जीने के लिए। नहीं जानती सच क्या है? पर मैंने उन सब यादों को लिखने की कोशिश की है। अपने भाई-बहनों, साथी-संगियों के

साथ खेले खेल, अपनी शैतानियाँ, दादी व दादाजी की सुनाई कहानियाँ, गांव में वो सब जो देखा-जिया। शायद हमारे समय का जिया बचपन अब खो गया है। क्या मैं उसे अपनी नई पीढ़ी के सामने दोहराना चाहती हूँ या इसलिए लिखा है कि हम बच्चों को बता सकें, देखो हमारा बचपन पारिवारिक रिश्तों से सम्पन्न कितना भरा-पूरा था। शायद ये बताना चाहती हूँ, कि देखो दादी, दादा जी ने अपने अनुभव कथा कहानी के जरिये हमारे जीवन में किस तरह बोये हैं, जो हम एक भरी-पूरी जिन्दगी को सम्पूर्णता से जी सकें। पर यही एक बात नहीं हो सकती। तो फिर बात क्या है? जो अपने बचपन को लिखा। हम पेड़ से टूटे पत्तों की तरह इधर-उधर भटक रहे हैं। ये भी एक बहुत बड़ा त्रास है, अपनी जड़ों से उखड़ जाने का दर्द। हमारी जड़ें कहाँ है? हमारे बच्चों की जड़ें कहाँ हैं? हम बिना जड़ों के कब तक जी पायेंगे? हमारी पहचान क्या है? बिना जड़ों के भटकते पत्तों की भी कोई पहचान होती है। कहीं हम समाज के उस वंचित समूह की तरह ही तो नहीं हो गए, जिन्हें औरत कहते हैं। जो बिना जड़ों के, बिना खाद-पानी के, किसी भी मिट्टी में, किसी भी जलवायु में पनपने का भ्रम पैदा करती हैं, कारण कुछ भी हो, जो जिया, उसे लिख दिया है। उनकी याद करते हुए जो अब इस नश्वर दुनिया में नहीं हैं। उन्हें भी याद करते हुए जो हैं तो सही, पर सालों पहले पहाड़ी की भगोड़ी भीड़ में कहीं खो गए। जो भी लिखने का प्रयास किया है, उसमें सारी ही सच्चाई है, बस कहीं-कहीं पर लिखने में छूट ले ली है। मैं आभारी हूँ अतुल शर्मा जी की जिन्होंने मुझसे हमेशा कहा कि जो लिखा है, उसे निकालो दबाए मत

रखो। संवेदना साहित्यिक मंच के सभी मित्रों की जिन्होंने मेरा लिखा हुआ सुनकर मुझे सराहा और मुझे लिखने का साहस दिया। प्रवीन कुमार भट्ट और रानू बिष्ट के साथ ही समय साक्ष्य की पूरी टीम का आभार जिनकी जिद्द के कारण यह किताब प्रकाशित हो रही है। महिला समाख्या की अपनी साथियों हेमलता और संध्या का जिनको जबर्दस्ती पकड़ कर मैंने अपना लिखा हुआ सुनाया और बार-बार पूछकर परेशान किया कि ठीक तो है ना। अपने उन सभी साथियों का हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरा लिखा हुआ टाइप किया और बार-बार त्रुटियों में सुधार किया।

यह सब लिखने में मैंने अपने परिवार के सदस्यों के हिस्से का कोई समय नहीं चुराया, ना ही उनको रोज दी जाने वाली सेवाओं में कोई कटौती की। मैंने तब लिखा जब केवल और केवल मेरा अपना वक्त होता था। शाम को, रात को, भोर में और अवकाश के दिन दोपहरी में, जब सब सोए होते हैं। मेरे लेखन का सारा श्रेय कमल जोशी को जाता है उन्होंने हर कठिन परिस्थिति में मेरा साथ दिया और मेरे हर काम को सराहा। मेरी हर तरह की रचनात्मकता कमल जोशी के कारण है। वो लाख वाद-विवाद के बाद भी मेरी प्रेरणा था और हमेशा रहेगा। मैं सुभाष पन्त जी के स्नेह और बड़प्पन की विशेष आभारी हूँ, उन्होंने अपने व्यस्त समय में से कुछ समय निकालकर इस किताब को पढ़ा और उसकी हृदय से सराहना करने के साथ ही भूमिका लिख कर अपना आशीर्वाद दिया। अपनी दादी और दादा जी को हमेशा याद करती हूँ

क्योंकि वे हर मुश्किल वक्त में अप्रत्यक्ष रूप में मेरे पीछे खड़े रहकर मुझे नैतिक बल देते हैं।

गीता गैरोला

अनुक्रम

मल्यो की डार	18
वहीं पर पड़ा है समय	21
घने कोहरे के बीच	37
देवता का खेल	55
कुणाबूड	62
मेरे मास्टर जी	68
प्यारा चक्खू	79
कोदे की फंकी	91
नजीब दादा	97
चौमास	108
बिजी जा	123
स्याही की टिक्की	128
ओ ना मासी धंग	139
मौसम सुहाना है	147

एक रामलीला ऐसी भी 156

सामूहिकता का रिवाज 164

नखलिस्तान 179

गाँव की तरफ़ 198